# इस्लामी तहज़ीब

**आयतुल्लाहिलउज़्मा सैय्यिदुलउलमा सै० अली नक़ी नक़वी ताबा सराह**
**अनुवादकः सैय्यद सुफ़यान अहमद नदवी**

इस वक़्त मौज़ूए सुख़न ''इस्लामी तहज़ीब'' है।

इस्लामी तहज़ीब के पेश करने से पहले ये चीज़ वाज़ेह कर देने की है कि दुनिया के दूसरे मज़ाहिब में तमद्दुन की दुनिया अक़ाएद से ग़ैर मुताल्लिक़ चीज़ है। मगर इस्लाम के उसूले अक़ाएद ही वह हैं जो इस्लामी तमद्दुन की तश्कील करते हैं।

इस्लामी तमद्दुन का सरचश्मा चार चीज़ें हैं। पहले ला इलाहा दूसरे इल लल्लाह तीसरे रब्बुल आलमीन चौथे मालिकि यौमिद्दीन यानी आख़िरत की जज़ा व सज़ा का ख़याल।

यही चार वह चीज़ें हैं जिनसे मिलकर पूरे इस्लामी तमद्दुन की तशकील हो जाती है।

पहली चीज़ जिसका बताना इस्लाम का नस्बुलऐन था। और वह ला इलाहा में मुज़मर (छुपा) है वह आलमे क़ाएनात में ख़ुद इन्सान का दर्जा और मक़ाम है। जब इन्सान अपने दर्जे को समझ लेगा तो वह अपने आईने ज़िन्दगी को ऐसा ही रखेगा जैसा उसके शायाने शान हो और पस्त मक़ासिद में अपनी ज़िन्दगी को राएगाँ न करेगा।

याद रखना चाहिए शै की बलन्दी मक़सद के एतेबार से होती है। जितना मक़सद ऊँचा है उसी हिसाब से वह चीज़ ऊँची है और जितना मक़सद पस्त है उसी के लेहाज़ से वह चीज़ पस्त है। क्योंकि ये यक़ीनी उसूल है कि ज़रिये से मक़सद बलन्द हुआ करता है इसलिए अगर इन्सान ने अपनी ज़िन्दगी के मक़सद को पस्त क़रार दिया तो इन्सान की ज़िन्दगी पस्ती में आ गयी और जितना ज़िन्दगी का मक़सद बलन्द हुआ उतनी ही ये ज़िन्दगी बलन्द हो गयी। इसके बाद जिस तरह वह ज़िन्दगी जिसके मक़ासिद पस्त हों इन्सानी रफ़अत के ख़िलाफ़ है। उसी तरह ऐसी ज़िन्दगी जिसका कोई मक़सद न हो।

इस्लाम का कलम-ए-तौहीद इन्हीं दो बातों को ख़त्म करता है और इसी में उसकी तहज़ीब की सभी बलन्दियाँ छुपी हुई हैं।

ला इलाहा की तालीम इन्सान की नज़र में बलन्दी पैदा करती है कि वह पस्त चीज़ों को मक़सद न बनाये। क्योंकि वह उसकी इन्तिहाई पस्त नज़री थी कि उसने माद्दी हैसियत से पहाड़ों को अपने से ऊँचा पाया तो उन पहाड़ों की पूजा करने लगा। दरख़्तों को फल देने वाला और साया देने वाला देखा और अपने को उनका मुहताज महसूस किया तो दरख़्तों की पूजा करने लगा। दरियाओं को देखा कि वह इस क़दर वुस्अत के साथ फ़ैज़ पहुँचाते हैं और मेरे लिए ज़िन्दगी की बक़ा का सामान पहुँचाते हैं तो दरियाओं को माबूद समझ लिया। जिस जानवर को देखा कि उससे मुझे खाना मिलता है उसी को अपना क़िब्ला बना लिया। जब इन्सान का काम हो गया हर चीज़ की इबादत करना तो सब चीज़ें उस से बलन्द हो गयीं और ये सबसे पस्त हुआ तो अब उसका किरदार और समाजी निज़ाम भी बलन्द कैसे हो सकता है।

इस्लाम का पहला काम ये था कि वह इन्सान को काएनाते आलम में उसका मक़ाम बताये कि वह हर चीज़ से ऊपर है। कोई चीज़ उस से ऊँची नहीं है जब इन्सान अपने दर्जे को पहचान लेगा कि मैं क्या हूँ तो फिर पहाड़ों, दरख़्तों और हैवानों की परस्तिश नहीं करेगा। फिर अपने को साहेबाने दौलत, अरबाबे सलतनत और हुक्काम के सामने नहीं झुकायेगा। यह उसकी हक़ीक़ी आज़ादी होगी। क्योंकि आज़ादी हक़ीक़त में ये नहीं है कि जो दिल चाहे वह करे बल्कि आज़ादी ये है

कि सच्चाई और हक़्क़ानियत के ख़िलाफ़ किसी दबाव का असर न क़ुबूल करे। ये वह रूह है जो ला इलाहा पैदा करता है।

ला इलाहा ने हर माबूद व बातिल को मिटा दिया। इसी लिए ला इलाहा कहा गया ला सनम नहीं कहा। अगर ला सनम कहा जाता तो ज़हन सिर्फ़ पत्थर, सोने चाँदी वग़ैरा के बुतों की तरफ़ जाता। मगर ला इलाहा कहा गया तो इसका मतलब ये हुआ कि कोई ऐसा नहीं जिसकी अज़मत के सामने इन्सान का सर झुकाना ठीक हो। उसने हर इलाह की नफ़ी कर दी। तो जिस तरह लात और हुबल के इक़्तेदार को मिटा दिया। उसी तरह नमरूद और शद्दाद को भी इक़्तेदार के तख़्त से उतार कर फेंक दिया बल्कि जिस तरह ख़ारजी असनाम उलूहियत के तख़्त से हटाये गये उसी तरह दाख़िली असनाम भी। यानी हर वह जज़्बा जो हक़्क़ानियत और ज़मीर के फैसले के ख़िलाफ़ इन्सान को मजबूर करना चाहे। अब जिस तरह सरमाये की परस्तिश ग़लत है उसी तरह रोटी को क़िब्ला बनाना भी ग़लत, लज़्ज़ते नफ़्स को अपना काबा बनाना भी ग़लत, ये बड़ा ही छुपा हुआ बुत था जिसका क़ुरआन ने पता दिया। जैसा कि पहले बयान हुआ जिस तरह पस्त चीज़ को मक़सद बनाना इन्सान की बलन्दी के ख़िलाफ़ है उसी तरह बे मक़सद ज़िन्दगी भी बेक़ीमत है। इसलिए मुतलक़ तौर पर ला इलाहा के बाद फिर एक बलन्द मरकज़ का ख़याल पैदा करना भी ज़रूरी था। जो इन्सान का नुक़्त-ए-निगाह बन सके। ये अगर न हो तो ख़ारजी बुतों से जब आज़ाद हो जाएगा तो दाख़ली बुतों में गिरफ़्तार हो जाएगा। जैसे क़ुरआन की ये आयत कह रही है "क्या तुमने उन्हें भी देखा जो अपनी अन्दुरूनी चाहत को अपना इलाह बनाये हुए हैं"।

इस ख़याल को ला इलाह के बाद इल लल्लाह ने क़ायम किया। इन्सान का माबूद और कोई नहीं मगर बस अल्लाह की ज़ात है जो उसका माबूद और मक़सदे अमल बन सकती है।

अल्लाह की पहचान जिस तरह करायी गयी उससे साफ़ साबित होता है कि उसकी बन्दगी इन्सानी आज़ादी की रूह है क्योंकि जैसा पहले कहा गया सही आज़ादी यही तो है कि इन्सान अपने सच्चे ज़मीर के फ़ैसले के मुताबिक़ जो सही और ठीक अमली तरीक़े पर हो उसको इख़्तियार करने की ताक़त रखता हो और अल्लाह कौन है? "वह" वह हस्ती है जो अद्ल और एहसान और जिन-जिन से जो क़राबतें हैं उनके एहतेराम पर मामूर करती है और हुदूद और हुक़ूक़ से क़दम आगे बढ़ाने, फ़ित्ना और फ़साद बरपा करने और नफ़्सानी चाहतों की बद लगामी से तुमको रोकती है।"

इससे ज़ाहिर हुआ कि अल्लाह की बन्दगी इन्सानी ज़मीर के तक़ाज़ों के ख़िलाफ़ नफ़्स पर कोई बार नहीं लगाती। हक़ीक़त में ये बन्दगी हर उस बन्धन से आज़ादी की वजह है जो इन्सान को ख़ुद अपने ज़मीर के ख़िलाफ़ ग़लत रास्तों की तरफ़ ले जाने पर मजबूर किया करती है।

इनमें सबसे पहली बात ये है कि अल्लाह अद्ल को पसन्द करता है वह आदिल (इन्साफ़ करने वाले) को दोस्त रखता है। इस तरह इन्सानी लोगों में इज्तेमाई हुक़ूक़ का ख़याल क़ायम किया और ज़ुल्म और सितम की दरवाज़े बन्द किये।

वह ज़मीर के ख़िलाफ़ सिर्फ़ नफ़्सानियत का तक़ाज़ा होता है कि जब हम साहेबे इक़्तेदार हैं तो पहले अपनी ज़ात को फ़ायदा पहुँचाएं। फिर अपने भाई, फिर अपने पड़ोसी को, फिर अपने दोस्तों और दूर के रिश्तेदारों को। अब इसमें कुछ और अफ़राद को चाहे नुक़सान पहुँच जाए लेकिन अल्लाह की मर्ज़ी हासिल करने का पहला नतीजा अद्ल है।

अब अगर आप जज की कुर्सी पर हैं और आपके सामने दो फ़रीक़ हैं उनमें एक हक़ीक़ी भाई और एक ग़ैर है और मुक़द्दमे से साबित हो गया कि हक़ ग़ैर के साथ है और अपना भाई हक़ पर नहीं है तो नफ़्स की चाहत यही कहती होगी कि भाई के हक़ में फ़ैसला किया जाए लेकिन ख़ुदा परस्ती का तक़ाज़ा ये होगा कि ग़ैर के हक़ में फैसला कीजिये। चाहे भाई के ख़िलाफ़ हो जाए। ये इम्तिहान है ख़ुदापरस्ती और ख़ुदपरस्ती का। जो ख़ुद परस्त होगा वह इक़्तेदार की कुर्सी पर आकर सिर्फ़ अपने भाईयों को फ़ायदा पहुँचायेगा, चाहे हक़ उनके ख़िलाफ़ हो। ये वही नज़रिया है जो

अहले जाहिलियत का था- ''अपने भाई की मदद करो चाहे ज़ालिम हो और चाहे मज़लूम'' इसके मुक़ाबले में इस्लाम का पैग़ाम ये था कि हक़ का साथ दो। चाहे भाई के साथ हो या ग़ैर के साथ।

रसूलुल्लाह[स०] ने इस मतलब को समझाने के लिए एक बार वही फ़िक़रा अरब जाहिलियत का ले लिया और माने बदल दिये। किसी शख़्स ने आपके सामने ज़िक्र किया कि अरब की यह कहावत है। आप[स०] ने फरमाया मैं भी यही कहता हूँ ''अपने भाई की मदद करो चाहे ज़ालिम हो, चाहे मज़लूम हो''। ये शख़्स जानता था कि आपकी तालीम इस जाहिली नज़रिये के ख़िलाफ़ है। इसलिए वह हैरत की निगाह से आपकी तरफ़ देखने लगा। रिसालतमआब[स०] ने फ़रमायाः अगर तुम्हारा भाई ज़ालिम है तो उसकी मदद ये है कि उसके हाथ को ज़ुल्म से रोक दो और अगर मज़लूम हो तो मदद ये है कि उस से ज़ुल्म को दूर करो।

इस्लामी तहज़ीब का इज्तेमाई ताल्लुक़ात में ये पहला उसूल हैः ''अल्लाह अद्‌ल का हुक्म देता है'', ''वह ज़ालिमों को दोस्त नहीं रखता''। ये अद्‌ल का उसूल उस वक़्त काम करता है जब किसी शख़्स के सामने दो आदमी हों। और उनमें आपस में झगड़ा हो। इसके बाद दूसरी सूरत ये है कि ख़ुद उस शख़्स और किसी दूसरे के दरमियान बात पड़ जाए और ग़ैर का मामला हो, तो उस वक़्त नफ़्स की चाहत तो ये है कि हम अपना मतलब हासिल करें। चाहे हक़ हमारा न भी हो, ये तो अद्‌ल ही के ख़िलाफ़ है। जो पहला उसूल है लेकिन हम अगर बहुत उसूल के पाबन्द हैं तो ये चाहेंगे कि जब हक़ हमारा है तो हम उसे ज़रूर ही हासिल कर लें। इस मौक़े के लिए इस्लामी तहज़ीब एक क़दम और आगे बढ़ती है और वह है एहसान का हुक्म जिसे अद्‌ल के बाद ज़िक्र किया है।

मतलब ये है कि अपने हक़ से आगे न बढ़ें यहाँ तक तो अद्‌ल है इसका लेहाज़ तो बहरहाल ज़रूरी है। मगर जब तुम ख़ुद साहेबे हक़ हो और तुम्हारा मामला ग़ैर के साथ पड़ गया हो तो बेहतर ये है कि दूसरे से अद्‌ल के मुतालबे को भी नज़र अन्दाज़ कर दो और अपना हक़ उसके लिए छोड़ दो। ये होगा एहसान, इसी बुनियाद पर मक़तूल के वारिसों को क़िसास का हक़ देने के बाद कहा गया कि ''अल्लाह एहसान करने वालों को दोस्त रखता है'' इसके बाद जहाँ तक अद्‌ल की शर्त को पूरा करना है, दूसरों के हुक़ूक़ का मामला है और एहसान की दावत दी गयी है वहाँ क़राबत और रिश्तों के पास व लेहाज़ और हुस्ने सुलूक में तरजीही ख़ुसूसियात के लेहाज़ की भी दावत दी गयी है और इसके लिये इरशाद हुआ।

इस तरह उसूले तहज़ीब तरतीब के साथ ये क़ायम हुएः-

1- अद्‌लः जिसका लेहाज़ ग़ैर के हुक़ूक़ में मुश्किल है।

2- एहसान

3- रिश्तेदारों के साथ ख़ास हुस्ने सुलूक।

अब ये क़राबत का तसव्वुर सिर्फ़ माद्‌दी नुक़्त-ए-नज़र से होता तो वह बहुत महदूद है। मगर इस्लाम ने इसमें भी वुस्अत पैदा की है। माद्‌दी रिश्तों से क़राबत भी बहरहाल क़राबत है। मगर इससे आगे कुछ और क़राबत के दायरे भी इन्सान को बता दिये। जिसमें से एक दूसरे को मुहीत है और इसकी वजह से मुस्लिम की नज़र में बैनुलआलमी आफ़ाक़ियत पैदा हो जाती है। इस वुस्अते निगाह की बुनियाद वस्फ़े इलाही रब्बुल आलमीन पर है कि जिस पर इस्लाम ने बहुत ज़ोर दिया है।

माद्‌दी एतेबार से जब इन्सान ताल्लुक़ात क़ायम करेगा, तो अपनी ज़ात सबसे ज़्यादा क़रीब महसूस होगी। फिर वह कि जिन-जिन से अपनी ज़ात के बराहे रास्त रिश्ते हैं, जैसे मा, बाप और औलाद, फिर अहबाब पड़ोसी और जान पहचान वाले ये वह रिश्ते हैं जो अपनी ज़ात को बीच में रख कर क़ायम होते हैं और चूँकि अपनी ज़ात महदूद है। इसलिए इन रिश्तों का ख़याल ज़्यादा से ज़्यादा चार पाँच पुश्तों में अज़ीज़दारी पैदा करता है। सिलसिला इस से आगे बढ़ा तो फिर इन्सान कोई अज़ीज़दारी महसूस नहीं करता और एक मन्ज़िल ऐसी आती है कि उलफ़त और मुहब्बत का कोई सबब मालूम नहीं रहा।

इस्लाम ने इन्सान को ये तसव्वुर पैदा कराया कि जब वह अपनी ज़ात से आगे बढ़े तो सबसे पहले ये

सोचे कि मेरा पैदा करने वाला और मेरा परवरदिगार कौन है? इस तरह क़राबत की लकीर इधर-उधर फैलने के बजाए एक दम बलन्दी की तरफ़ चली गयी। अब उधर जाके अगर उसकी निगाह के सामने सिर्फ़ ख़ालिक़ के सिफ़ाते जमाल व कमाले ज़ात ही रह गये तो ये उन जलवों में ऐसा खोयेगा कि ये अब ख़ल्क़ की तरफ पलटेगा ही नहीं इसलिए कि वुजूबे वजूद के कमालात की बिजली उसकी निगाहों को ऐसा ख़ीरा कर देगी कि वह मुमकिन चीज़ों को बिल्कुल बेकार समझ लेगा। अब उसकी नज़र में कोई आता ही न होगा। इसी तरीक़-ए-तसव्वुर का नतीजा होगा रोहबानियत। अब इन्सान पहाड़ों पर निकल गया। बीवी बच्चों से अलग-थलग। जंगलों में बिना किसी सामान के फिरने लगा। इस तरह ये शख़्स अपनी क़िस्म से कटकर अलग हो गया। ये ख़ालिक़ के मक़सद के ख़िलाफ़ है। उसने उसे नौए इन्सान में पैदा किया है तो वह उसे उस कुल का एक फ़ायदा रसाँ जुज़ रखना चाहता है।

इसके लिए इस्लाम ने अल्लाह के कमाले ज़ात के तसव्वुर के साथ फ़ौरन बिला फ़ासला ज़हन को उधर मुन्तक़िल किया कि इसका रिश्ता किन-किन से है। अब अगर इसका रिश्ता सिर्फ़ एक ख़ानदान से होता तो निगाह उस ख़ानदान पर जाती अगर एक मुल्क से होता तो निगाह उस मुल्क पर पड़ती। मगर वह तो है लामहदूद इसलिए इस्लाम ने उसका तआरुफ़ कराया कि अलहम्दुलिल्लाहि रब्बिल आलमीन इस तरह बताया कि अल्लाह तमाम आलमीन का परवरदिगार है अब अल्लाह के ज़रिये से उस शख़्स का रिश्ता तमाम काएनात से क़ायम हो गया और चूँकि ख़ुदावन्दे आलम तमाम आलमीन से एक जैसा ताल्लुक़ रखता है इसलिए उसके ज़रिये से जो रिश्ता क़ायम हुआ उसमें अपने अज़ीज़ और ग़ैर, अपने दोस्त और दुश्मन की कोई तफ़रीक़ नहीं रही। इसी लिए अल्लाह की इस रुबूबियत का अलम बुलन्द करने के लिए जो सबसे बड़ा रसूल भेजा गया। उसके अमल का दायरा यही बताया कि ''हम ने तुमको तमाम आलमीन के लिए रहमत बनाकर भेजा है'' अगर वह किसी मुल्क के लिए होता तो ऐसी तालीम देता जो उस मुल्क को फ़ायदा पहुँचाए। वह तो तमाम ख़ल्क़ के लिए था। इसलिए उसने तालीम भी वह दी जो तमाम ख़ल्क़ को भाईचारगी और बराबरी की कड़ी में पिरो दे।

हम दुनिया के लीडरों को देखते हैं कि जिस मुल्क में गये वहाँ वालों की तबीअत के मुताबिक़ बातें कहने लगे। हमारे यहाँ का कोई सफ़ीर ईरान जाए तो वह वहाँ यही बयान करेगा कि हमारे ताल्लुक़ात ईमान के साथ कितने पुराने हैं। अगर इराक़ जाए तो वहाँ इराक़ के साथ अपने पुराने ताल्लुक़ात का तज़किरा करेगा। मगर ये पैग़म्बरे इस्लाम[स०] थे कि अरब के अन्दर बैठकर ये एलान फ़रमा रहे थे कि ''कोई फ़ख़्र नहीं क़रशी को ग़ैर क़रशी पर और अरब को ग़ैर अरब पर। तुम सब आदम[अ०] की औलाद हो।'' इस एलान की इतनी क़ीमत उस वक़्त न होती कि जब आप ईरान तशरीफ़ ले गये होते और वहाँ किसी तक़रीर में ये अलफ़ाज़ इरशाद फ़रमाये होते।

आज दुनिया बराबरी, बराबरी के नारे लगा रही है। मगर ये क़ानूनी बराबरी किस काम की। जिसका ख़ाका दिमाग़ के अन्दर कुछ नहीं।

दुनिया चाहती है कि बराबरी से भाईचारगी क़ायम करे हालांकि सही उसूल ये है कि पहले भाईचारगी का एहसास पैदा हो और भाईचारगी से बराबरी क़ायम हो क्योंकि बराबरी एक बाहरी अमल है और भाईचारगी एक अन्दुरूनी ख़याल है जब तक अन्दुरूनी दुनिया में भाईचारगी का एहसास पैदा न होगा बराबरी की जो इमारत खड़ी की जायेगी वह बेबुनियाद होगी।

अब सवाल ये है कि भाईचारगी कैसे क़ायम हो। तो इसकी बुनियाद है वही जिसे रब्बुल आलमीन के लफ़्ज़ से इस्लाम ने पेश किया। क्योंकि भाईचारगी के माने ये हैं कि कोई कसरत किसी वहदत की तरफ़ मन्सूब हो जाए। यहाँ तक कि सगे भाई इसीलिए भाई हैं कि वह एक माँ-बाप की औलाद हैं।

इसी तरह एक बिरादरी के लोग एक मूरिसे आला की नस्ल के लोग हैं। हमवतन, एक देश के रहने वाले और यहाँ तक कि अब दुनिया के साथ सूरज की वहदत को मरकज़ बताये हुए है और मसाएल पर यूँ ग़ौर होता है कि कौन मश्रिक़ के लिए फ़ायदेमन्द है और

कौन मग़रिब के लिए।

अब अगर कोई मरकज़ ऐसा सामने आ जाए जो मश्रिक़ और मग़रिब के फ़र्क़ को भी दूर कर दे तो वह सारी दुनिया के रहने वालों के लिए भाईचारगी का पैमाना बन जायेगा। इस मरकज़ का क़ुरआन ने पता दिया। ये कहकर ''अल्लाह ही मश्रिक़ का परवरदिगार और अल्लाह ही मग़रिब का परवरदिगार है'', ''पूरब और पच्छिम दोनों उसी के हैं'' इस तरह पूरे आलम के आख़िरी मरकज़ को बता दिया और जबकि दुनिया इस चौदहवीं सदी में मश्रिक़ और मग़रिब पर बंट गयी है तो इसके बाद दुनिया की बढ़ोत्तरी का क़दम यही हो सकता है कि वह मश्रिक़ व मग़रिब में भी एक नुक़्त-ए-मुश्तरक का ख़याल कर ले और वह दोनों के परवरदिगार की ज़ात है।

और रब्बुल आलमीन का ख़याल तो इसके भी आगे है। दुनिया आज मिरीख़ तक पहुँचने की कोशिश कर रही है। दूसरे सैय्यारों में भी आबादियों के इन्केशाफ़ की फ़िक्र है। फिर ये तो इस शम्सी निज़ाम के हिस्से हैं। इसके आगे दूसरे सूरज और फिर उनके निज़ाम और उनके सैय्यारों में आबादियों के इमकान। मगर जहाँ-जहाँ भी मख़लूक़ बस्ती हो वह आलमीन के दायरे से बाहर कभी नहीं जा सकती जहाँ तक क़ुरआन ने इस्लामी भाईचारगी के दायरे में पहले से वुस्अत का पता दे दिया है।

मिरीख़ हो या चाँद या कोई और सैय्यारा। बल्कि इसके आगे किसी शम्सी निज़ाम का कोई हिस्सा जहाँ भी पहुँच जाओ वहाँ उसी परवरदिगार की ख़ुदाई होगी और वहाँ के रहने वाले उसके रिश्ते से तुम्हारे भाई होंगे।

इस तरह इस्लाम ने वहदते ख़ालिक़ को इत्तेहादे ख़लाएक़ का ज़रिया क़रार दिया। और इसी मेयार पर अल्लाह के हुक़ूक़ के साथ लोगों के हुक़ूक़ पैदा फ़रमाये।

रसूलुल्लाह[स०] एक ग़ज़्वे पर तशरीफ़ ले जा रहे थे हज़रत[स०] सवारी पर सवार हो चुके हैं। सफ़र के बहुत से साथी पहले जा चुके हैं कि एक अरब ने घोड़े की लगाम को हाथ में पकड़ कर कहा ''मुझे पूरा दीन बता दीजिये'' इस वक़्त के इस्लामी उलमा में से कोई होता तो पहले तो उसके इल्म में ये सवाल ही न समाता। वह फ़ौरन सोचने लगता कि इस सवाल के जवाब में कई सौ सफ़हों की किताब लिखनी होगी और फ़िर अख़लाक़ में इतनी गहराई न होती। भला सफ़र का हंगामा, रवानगी का पूरा सामान और उस वक़्त ये अज़ीमुश्शान सवाल! यक़ीनन त्योरियों पर बल आ जाते और कहा जाता कि भला ये वक़्त इस मसले के पूछने का है। लेकिन वहाँ एक तरफ़ इल्मी हुकूमत ये थी कि दरिया को प्याले में रखा जा सकता था और दूसरी तरफ़ अख़लाक़ में इतनी गहराई थी कि पेशानी पर शिकन तक न आयी। आपने जवाब दिया इस जवाब को सुनने से पहले फिर वक़्त की नज़ाकत का अन्दाज़ा कर लीजिये। यानी सफ़र सामने है साथी रवाना हो चुके हैं। रसूल[स०] भी सवारी पर सवार हैं तो अब इस वक़्त जो जवाब दिया जायेगा उसमें कोई हिस्सा ग़ैर ज़रूरी तो बिलकुल नहीं हो सकता।

अब ग़ौर कीजिये कि रसूल[स०] क्या जवाब देते हैं? सवाल था कि ''मुझे पूरा दीन बता दीजिये'' पैग़म्बरे ख़ुदा[स०] जवाब देते हैं: पूरा दीन ये है ''अल्लाह की इताअत और मख़लूक़ पर शफ़क़त''।

बस यही इस्लामी तहज़ीब है। यही वह दीन है जो हज़ारों पन्नों की किताबों में बयान हो सकता है और इसी को हज़रत पैग़म्बरे ख़ुदा[स०] ने एक जुमले में बयान फ़रमा दिया इसमें सारे समाजी उसूल हैं। इसमें दोस्तों के भी हुक़ूक़ हैं दुश्मनों के भी। मुवाफ़िक़ों के भी मुख़ालिफ़ोंके भी, अपनो के भी हुक़ूक़ हैं दूसरों के भी हुक़ूक़ हैं।

आज दुनिया में इन्सानी हुक़ूक़ का चर्चा है। इन्सानी हुक़ूक़ के क़ानून तैयार किये गये हैं और इसी की बुनियाद पर मुआहेदे हो रहे हैं। मगर इसकी बुनियाद चौदह सौ साल पहले हज़रत मुहम्मदे अरबी[स०] के हाथ से क़ायम हुई। उन्होंने इन्सानी हुक़ूक़ का क़ानून सभी हदों और तफ़सीलों के साथ शाया कर दिया। और अपने अमल से जीती जागती शक्ल में दिखा दिया। और बता दिया कि इन्सानी हुक़ूक़ क्या होते हैं और वह किस तरह अदा होते हैं।

मक्के की वह पुरआशोब ज़िन्दगी जो 13 साल की लम्बी मुद्दत में गुज़री, उसी ज़िन्दगी का मशहूर

वाक़िआ है कि एक औरत रोज़ाना हज़रत[स॰] के मुबारक सर पर जब आप रास्ते से गुज़रते थे घास-फूस यानी घर का कूड़ा-करकट फेंक दिया करती थी ये रोज़ का मामूल था। हज़रत ने उस से कोई झगड़ा नहीं किया और न वह रास्ता छोड़ा। कुछ दिन ऐसे गुज़र गये कि ये वाक़िआ पेश नहीं आया। हज़रत रास्ते से गुज़रते रहे और वह कूड़ा जो फेंका जाता था फेंका न गया। अब हुज़ूर ने लोगों से पूछा क्या कि यहाँ एक औरत रहती थी वह हमारे सर पर रोज़ाना कूड़ा करकट फेंकती थी, वह कहाँ गयी? लोगों ने अर्ज़ की कि वह कई दिन से बीमार है। हुज़ूर[स॰] ने फ़रमाया कि हमें उसका घर बता दो हम उसकी अयादत कर लें। लोगों ने घर बता दिया। हज़रत[स॰] उसके घर तशरीफ़ ले गये। औरत ने जब हज़रत[स॰] को देखा तो अपनी पस्त ख़याली से कहा कि तुम इस वक़्त मुझसे बदला लेने आये हो जब मैं बीमार हूँ! हुज़ूर ने फ़रमाया कि ऐ ख़ुदा की बन्दी! मैं बदला लेने नहीं आया हूँ। बल्कि ये सुनकर कि तुम बीमार हो तुम्हारी अयादत को आया हूँ। नतीजे को न देखिये कि वह बाद में मुसलमान हो गयी। ये देखिये कि जब आप अयादत को तशरीफ़ ले गये हैं उस वक़्त तो वह काफ़िरा थी। तो ये अयादत को जाना कौन से हक़ का अदा करना था। हक़ ईमानी तो उसका कोई था नहीं। मानना पड़ेगा कि ये इन्सानी हक़ था जो अदा किया जा रहा था। यानी एक इन्सान का हक़ दूसरे इन्सान पर ये है कि वह उसके दुखः दर्द में काम आये और उसके साथ हमदर्दी करे।

दूसरा वाक़िआ ये है कि हातिम ताई की बेटी हुज़ूर की ख़िदमत में आती है तो आप उसकी ताज़ीम के लिए खड़े हो जाते और अपनी अबा को उसके लिए बिछा देते हैं। लोग बाद में कहते हैं कि हुज़ूर ये तो काफ़िरा है। आपने इसके साथ ये सुलूक क्यों किया? हज़रत[स॰] ने फ़रमाया कि ''हर क़ौम में जो ख़ूबियों वाले लोग हों उनकी इज़्ज़त करना चाहिए'' मालूम हुआ कि ये इन्सानी हक़ है ईमानी हक़ नहीं है।

फिर मेहमान के लिए साफ़ कहा गया है ''मेहमान की ख़ातिरदारी करो चाहे वह काफ़िर हो'' मालूम हुआ कि यह भी इन्सानी हक़ है।

इस्लाम में दो सफ़ें इज़्ज़त के क़ाबिल हैं। एक मुस्लिम और दूसरे मोमिन। और क़ुरआन के हिसाब से मोमिन का दर्जा मुस्लिम से ऊँचा है, क़ुरआन मजीद में है ''ये रेगिस्तानी अरब आकर कहते हैं कि हम ईमान लाये, कहो कि तुम ईमान नहीं लाये हाँ ये कहो कि हम इस्लाम लाये। ईमान तो अभी तक तुम्हारे दिलों में दाख़िल नहीं हुआ है'' मालूम हुआ कि इस्लाम आसान है, ईमान मुश्किल है। मुस्लिम का दर्जा पहले हासिल हो जाता है और मोमिन का दर्जा बाद में हासिल होता है। अब एक हदीस मेरे सामने है। जो मुस्लिम के बारे में है और एक हदीस मोमिन के बारे में है। मुस्लिम के बारे में ये हदीस है कि ''मुसलमान वह है जिसके हाथ और ज़बान से मुसलमान बचे रहें'' और मोमिन के बारे में ये हदीस है कि ''मोमिन वह है जिसके ख़तरे से उसके पड़ोसी बचे रहें'' अब ज़ाहिर है कि पड़ोसी के माने किसी क़ौम व मिल्लत के नहीं हैं। यह इन्सानी हुक़ूक़ हैं जिनका अदा करना ईमान का रुक्न है।

बराबरी यानी बराबर के हुक़ूक़ में ख़ानदानों और शख़सियतों के फ़र्क़ को नज़रअन्दाज़ करना इसमें सबसे मुश्किल ख़ुद अपनी ज़ात के साथ बराबरी करना है। हज़रत पैग़म्बरे इस्लाम[स॰] ने इसकी जो मिसाल पेश फ़रमायी है वह तारीख़े आलम में बेनज़ीर है। हज़रत मरज़ुल मौत में गिरफ़्तार हैं और इसी बीमारी की हालत में एलान होता है कि मुसलमान मस्जिद में इकटठा हो जाएं हज़रत[स॰] ख़ुतबा इरशाद फ़रमायेंगे। मुसलमान इकटठा हो जाते हैं। हज़रत[स॰] मस्जिद में ख़ुतबा इरशाद फ़रमाते हैं और उसमें इरशाद होता है कि क़रीब ही मैं अल्लाह के बुलावे पर लब्बैक कहूँगा और तुम से रुख़सत हो जाऊँगा तो तुम में से जिसको मेरे हाथ से कोई तकलीफ़ पहुँची हो वह मुझसे बदला ले ले। ये सुनकर मजमे में से सवादा बिन क़ैस एक शख़्स खड़े हो गये और कहा कि एक दिन हुज़ूर[स॰] ऊँटनी पर सवार थे और कहीं तशरीफ़ ले जा रहे थे ऊँटनी ने चलने में कुछ कमी की। हुज़ूर[स॰] ने चाबुक को हिलाया मैं क़रीब से गुज़र रहा था वह चाबुक मेरी पीठ पर पड़ गया, मुझे ये तकलीफ़ आपके हाथ से पहुँची है।

इस दावे की हालत पर ग़ौर किया जाए तो

मालूम होगा कि दावा करने के वाले के बयान में खुद ही जिससे दावा किया जा रहा है उसकी सफ़ाई मौजूद है। वह खुद कहता है कि हुज़ूर[स०] का इरादा ऊँटनी को तम्बीह करने का था। हो सकता है कि उस शख़्स की खुद की ग़लती हो कि चाबुक के सामने आ गया हो। किसी और के ख़िलाफ़ अगर ये दावा होता तो यक़ीन है कि खुद दावा करने वाले के बयान से उसे बरी क़रार दे दिया जाता मगर चूँकि दावा खुद आप[स०] के ख़िलाफ़ था। आपने जायज़ सफ़ाई भी पेश नहीं फ़रमायी और बिलाल से फ़रमाया कि जाकर हमारी वह चाबुक ले आओ। बिलाल चाबुल ले आये। हज़रत[स०] ने चाबुक उस शख़्स की तरफ़ बढ़ाते हुए फ़रमाया कि ये चाबुक हाज़िर है अपना बदला ले लो। सवादह ने कहा कि जब हुज़ूर[स०] का चाबुक मेरी पीठ पर पड़ा था तो मेरे जिस्म पर कपड़ा न था इसलिए मुझे ज़्यादा तकलीफ़ हुई थी। हज़रत[स०] ने अपनी पीठ से कपड़ा हटा दिया और फ़रमाया जिस तरह तुमको तकलीफ़ पहुँची थी उसी तरह मुझे पहुँचाओ। अब वह शख़्स मुबारक पीठ को चूमने लगा और कहा मेरी क्या मजाल है जो इस जिस्म को कोड़े से छुलाऊँ। हज़रत[स०] ने फ़रमाया ये मेहरबानी का मौक़ा नहीं है या तो बदला लो या कहो कि मैंने माफ़ किया। उस शख़्स ने रो-रो कर कहा मैंने आपको माफ़ कर दिया तब हज़रत को सुकून हुआ।

ये है इस्लामी तहज़ीब का ख़ाका उसके हिस्सों पर फिर ग़ौर कर लीजिये। काएनात की कोई चीज़ माबूद नहीं। इसलिए किसी के सामने सर झुकाना नहीं। हाँ एक तुम्हारा माबूद है जो बराबरी और एहसान और हर तरह के रिश्तों के क़ायम करने और हिफ़ाज़त करने का तलबगार और हर तरह के ज़ुल्म और सितम, नाबराबरी और सियाहकारी से रोकता है। उसकी इबादत करना चाहिए और उसकी बन्दगी का तक़ाज़ा ये है कि इन्सान अख़लाक़ी व इज्तेमाई हुदूद व क़ुयूद का पाबन्द रहे, और अपने नफ़्स को देखता रहे और फिर वह हमारा परवरदिगार तमाम आलमीन का परवरदिगार है इसलिए हमारा बग़ैर किसी रंग, नस्ल, मुल्क के फ़र्क़ के सभी इन्सानों से रिश्ता है और उनके फ़ायदों की हिफ़ाज़त के हम ज़िम्मेदार हैं।

इस उसूल पर किसी समाज की बुनियाद पड़े तो क्या दुनिया का कोई शख़्स इस से परेशान हो सकता है? मगर हक़ीक़त ये है कि इस्लामी तहज़ीब के नाम से अक्सर जो नमूने पेश हुए वह क़ैसरियत व किसरवियत या फ़िरऔनियत व शद्दादियत से बस थोड़े ही अलग थे। उनमें शहंशाहियत का इतना ग़लबा था कि दुनिया दीने इस्लाम से बिदक गयी और इसलिए वह इस्लामी निज़ाम के नाम से थर्रा जाती है।

इस्लामी निज़ाम में हाकिम के फ़राएज़ कितने सख़्त होते हैं। इसे हज़रत अली बिन अबी तालिब के इन अलफ़ाज़ में देखिये जो उन्होंने मालिके अश्तर को मिस्र का हाकिम बनाते वक़्त लिखे थे। फ़रमाते हैं:-

मैं तुमको ऐसी जगह हाकिम बनाकर भेज रहा हूँ जहाँ अलग-अलग मज़हब और मसलक के लोग रहते हैं। याद रखो तुम पर उन सबके हुक़ूक़ की ज़िम्मेदारी है। इसलिए कि वह जिस मज़हब के भी हों बहरहाल या तो तुम्हारे दीनी भाई होंगे और या तुम्हारी ही तरह अल्लाह की मख़लूक़ होंगे। ख़ुदा उन सबके हुक़ूक़ के बारे में तुमसे पूछताछ करेगा।''

फिर इसी ख़त में इस सवाल का जवाब दिया है जो आज हर मुल्क की हुकूमत की तरफ़ से कमज़ोरों के सामने पेश होता है कि हम कैसे यक़ीन करें कि तुम वफ़ादार होगे। आप फ़रमाते हैं:-

''तुम्हारा भरोसा अपनी रिआया की वफ़ादारी पर इतना होना चाहिए जितना तुम्हारा सुलूक उन से अच्छा हो।''

इसका नतीजा ये है कि ये उनसे पूछने की बात नहीं है कि तुम वफ़ादार होगे या नहीं। बल्कि ये अपने गिरेबान में मुँह डालकर देखने की चीज़ है कि आपका सुलूक उनके साथ कैसा है।

जो तहज़ीब मख़लूक़ के लोगों के अन्दर इस फ़र्ज़ को पूरा करने, हदों को पहचानने और हुक़ूक़ को जानने के साथ क़ायम हो वह इस्लामी तहज़ीब होगी। वरना नाम चाहे जो कुछ रख लीजिये और काग़ज़ पर उसके दस्तूर में कितनी ही ख़ूबसूरत बातें लिख दीजिये उस समाज और तहज़ीब का इस्लाम से कोई ताल्लुक़ न होगा।